**सहजानंद शास्त्रमाला**

# कल्याणमन्दिर स्तोत्रम

**रचयिता**

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

**प्रकाशक**

**श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ**

**एवं**

**श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास**

**गांधीनगर, इन्दौर**

**Online Version : 001**

http://sahjanandvarnishastra.org/
( सर्वाधिकार सुरक्षित )

ॐ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला–१२

श्रीमत्कुमुदचंद्रमुनिवरविरचितम्

# कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्

( सहजानन्दप्रकटीकृताध्यात्मध्वनिसहितम् )

लेखक :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
( उ० प्र० )

प्रथम संस्करण
११०० ]

१९६३

[ न्योछावर
२५ नये पैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ॐ

# कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि-
भीताभयप्रदमनंदितमंघ्रिपद्मम् ।
संसारसागरनिमज्जदेशषजन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥१॥

अन्वय—कल्याणमन्दिरं उदारं अवद्यभेदि भीताभयप्रदं अनिन्दितं संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तुपोतायमानं जिनेश्वरस्य अंघ्रिपद्मं अभिनम्य—

अर्थ—कल्याणके स्थान, उदार, पापोंको नष्ट करनेवाले, भयभीत प्राणियोंको अभय देनेवाले प्रशंसनीय एवं संसारसागरमें डूबते हुए समस्त प्राणियोंको तारनेके लिये जहाजके समान ऐसे जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंको नमस्कार करके—

अध्यात्मध्वनि—अनुपम कल्याणके स्थान, उदार, रागद्वेषरहित, बाह्य पदार्थोंमें व्यामोह होनेके कारण अनेक शंका भयोंसे भीत जीवोंको अभयभाव देनेवाले रागद्वेषमय संसारमें डूबे हुए समस्त जन्तुवोंको पार लगानेके लिये जहाजकी तरह अनिन्दित अर्थात् निन्दामें न आ सकनेवाले योगियोंसे प्रशंसनीय जिनेश्वर—कामादिशत्रुवोंको जीतनेवाले ईश्वर चैतन्यभावके अंघ्रिपद्मयुगल अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन भाव उसको नमस्कार करके उनके विशुद्ध स्वरूपके स्मरणसे उन्हींमें विनत हो करके ॥१॥

सारांश—इस छन्दमें सर्वकल्याणस्वरूप चैतन्य महाप्रभुके चरणयुगल अर्थात् सहजज्ञान व सहजदर्शनस्वरूपको नमस्कार किया है, जो नमस्कार नियमसे कल्याणकारी है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुं ।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतोस् ,
तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥२॥

अन्वय—गरिमाम्बुराशेः यस्य स्तोत्रं विधातुं स्वयं सुविस्तृतमतिः स्वयं सुरगुरुः न विभुः। कमठस्मयधूमकेतोः तस्य तीर्थेश्वरस्य संस्तवनं एष अहं किल करिष्ये।

अर्थ—गौरवके समुद्रस्वरूप जिस देवकी स्तुति करनेके लिये स्वयं विशाल-बुद्धि वाले वृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं ऐसे तथा कमठके मान भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप उस तीर्थेश्वरभगवान् पार्श्वनाथकी स्तुतिको यह मैं करूंगा।

अध्यात्मध्वनि—अनन्त गुणोंसे गरिम—गुरु उसके एकभावरूप जलबिन्दु स्थानीय गुणोंकी राशि ऐसे जिस चैतन्यभगवान्के स्तोत्रको करनेके लिये बहुत विस्तृत है बुद्धि जिसकी ऐसा द्वादशांगपाठी स्वयं इन्द्र भी समर्थ न हो सका उस दुष्टप्रवृत्तियोंके मानके नाश करनेमें अग्निकी तरह तीर्थेश्वर-धर्मके अधिपति चैतन्य प्रभुके संस्तवनको यह मैं किस (हर्ष और उत्साहके बलसे) निश्चयसे करूंगा ॥२॥

सारांश—इसमें अन्तरात्माने अविकारी तीर्थेश्वर चैतन्य महाप्रभुके स्तवन का संकल्प किया। शिवमय यह संकल्प सर्वसिद्धिप्रद है।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश भवन्त्यधीशाः ।
धृष्टोपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥३॥

अन्वय—हे अधीश तव स्वरूपं सामान्यतः अपि वर्णयितुं अस्मादृशाः कथं अधीशा भवन्ति, यदि दिवान्धः कौशिकशिशुः धृष्टः अपि स्यात् किं किल घर्मरश्मेः रूपं प्ररूपयति ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हे प्रभु ! तुम्हारे स्वरूपको सामान्यरूपसे भी वर्णन करनेके लिये हम सरीखे मनुष्य कैसे समर्थ हो सकते हैं ? अथवा दिनमें अन्धा रहने वाला उल्लू का बच्चा धीठ भी हो जाय तब भी क्या सूर्यके रूपका वर्णन कर सकता है ?

अध्यात्मध्वनि—हे अधीश चैतन्य देव ! तुम्हारा सामान्यसे भी वर्णन करनेके लिये हम सारिखे लोग क्या समर्थ हो सकते हैं अर्थात् जब हम आपका स्वरूप सामान्यसे भी वर्णन करने के लिये समर्थ नहीं हैं तब विशेषतया अर्थात् अनन्त गुण उसके अविभागप्रतिच्छेद उनके विलास आदि का तो हम वर्णन ही क्या कर सकते हैं अथवा आपके कुछ विशेषोंका तो वर्णन कथमपि कर सकते हैं, किन्तु सामान्यदृष्टिसे द्रव्यदृष्टिसे ही वर्णन करना बड़ा कठिन है। वह अनादि निधन चैतन्य तत्त्व लक्ष्यमें तो आता है परन्तु वचनके अगोचर है।

सारांश—हम तेरा वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि जैसे दिनको अन्धा रहनेवाला उल्लूका बच्चा हठ भी करे तो भी क्या सूर्यका—सूर्यप्रकाशका प्ररूपण कर सकता है ? अथवा दिवांध अर्थात् स्वर्गमें स्वर्गसुखमें अन्धा कौशिक (शक्र) का बेटा अर्थात् इन्द्रतुल्य सुखी एवं ज्ञानी देव हठ भी करे तो भी क्या कर्मके दहन करनेमें प्रचण्ड तेजयुक्त ज्ञानमात्र भावका वर्णन कर सकता है ? ॥३॥

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवांतपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ॥४॥

अन्वय—हे नाथ ! मर्त्यः मोहक्षयात् अनुभवन् अपि नूनं तव गुणान् गणयितुं न क्षमेत । यस्मात् ननु कल्पान्तवांतपयसः जलधेः प्रकटः अपि रत्न-राशिः केन मीयेत ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


अर्थ—हे नाथ ! मनुष्य मोहके क्षय से अनुभव करता हुआ भी निश्चयसे तुम्हारे गुणोंको गिननेके लिये समर्थ नहीं हैं। क्योंकि जैसे कल्पके अन्तकालमें वमन कर दिया अर्थात् बाहर हो गया है पानी जिसका, ऐसे समुद्रके प्रकट हुये भी रत्नसमूह किसके द्वारा मापे जा सकते हैं—गिने जा सकते हैं ?

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य शरण ! मर्त्य अर्थात् मनुष्य अथवा विनश्वर पर्याय मोहके क्षय होनेपर तुम्हें पूर्ण अनुभव तो कर लेता है, किन्तु निश्चयसे तुम्हारे गुणोंको गिनानेके लिये कोई समर्थ नहीं होता। क्योंकि कल्पान्तकाल-प्रलयकालमें उगल दिया है जल जिसने ऐसे समुद्रसे प्रकट हुआ भी रत्नोंका ढेर दिखनेमें तो पूरा आ जाता है, परन्तु कोई क्या उसे गिन सकता है ? ॥४॥

सारांश—चैतन्य प्रभुके गुणोंको कोई गिन ही नहीं सकता। हां, उनका अनुभव किया जा सकता है। सो पेड़ गिननेसे क्या प्रयोजन, फलका स्वाद लो, इस नीतिके अनुसार भी सर्वयत्न छोड़कर चैतन्य प्रभुका अनुभवन करो।

**अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जडाशयोऽपि,**
**कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।**
**बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,**
**विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५॥**

अन्वय—हे नाथ ! जडाशयः अपि अहं लसदसंख्यगुणाकरस्य तव स्तवं कर्तुं अभ्युद्यतः अस्मि। निजबाहुयुगं वितत्य बालः अपि स्वधिया अम्बुराशेः विस्तीर्णतां किं न कथयति ?

अर्थ—हे नाथ ! मूर्ख होकर भी मैं शोभायमान असंख्यात गुणोंके आकर स्वरूप तुम्हारा स्तवन करनेको तैयार हुआ हूं, सो ठीक ही है, क्योंकि अपनी दोनों भुजाओंका विस्तार करके क्या बालक भी अपनी बुद्धिके अनुसार समुद्र की विस्तीर्णताको क्या नहीं कहता ?

अध्यात्मध्वनि—हे नाथ, हे सहाय ! जड़ आशय होनेपर भी अर्थात् कर्मके उदय व क्षयोपशम होनेकी अवस्थामें प्रकट होनेवाले पराश्रित इन्द्रियज

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

ज्ञानके अनुकूल आशय होनेपर भी, व्यक्तिमें निर्बल ज्ञान होनेपर भी मैं विलास को निरन्तर प्राप्त हो रहे अपरिमित गुणोंके आधार हे चैतन्यदेव तेरी स्तुति करनेके लिये तैयार हो रहा हूँ। सो कहते हैं—कि अपने बाहुयुगको फैला कर के बालक भी अपनी बुद्धिके अनुसार समुद्रकी विस्तारताको क्या नहीं कहता है अर्थात् कह ही देता है ॥५॥

सारांश—चैतन्य प्रभुकी प्रबल भक्ति होनेके कारण कथंचित् असमर्थ होने पर भी धर्मानुरागी प्रभुके गुणोंको भजता ही है। इसीसे वह अन्तरात्मा असमर्थताको दूर कर अनुभवमें पूर्ण समर्थ हो जाता है।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश,<br>
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः।<br>
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं,<br>
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६॥

अन्वय—हे ईश ! तव ये गुणाः योगिनां अपि वक्तुं न यांति तेषु मम अवकाशः कथं भवति तत् एवं इयं मे असमीक्षितकारिता जाता। वा ननु पक्षिणः अपि निजगिरा जल्पन्ति।

हे प्रभो ! तुम्हारे जो गुण योगियोंके भी कहनेमें नहीं आते उन गुणोंमें मेरा अवकाश कैसे हो सकता है ? इसलिये इस प्रकार यह मेरी बिना विचारे करनी हुई अथवा ठीक है ही, पक्षी भी तो अपनी वाणीसे कुछ तो बोला करते ही हैं।

अध्यात्मध्वनि—हे अनंतशक्तिमान् चैतन्य देव ! तुम्हारे जो गुण योगिजनों के भी कहनेमें नहीं आते हैं उनमें मेरा अवकाश (स्थान) कैसे हो सकता है ? अथवा यह प्रयास बिना बिचारे ही की हुई बात है। सो ठीक ही है क्योंकि पक्षी भी अपनी वाणीसे क्या बोलते नहीं हैं।

सारांश—मेरी जो वाणी है वह आपके यथार्थस्वरूपको प्रकट करनेमें असमर्थ है अथवा किसी वचनमें शक्ति ही नहीं, जो द्रव्यका भी सर्वांगपूर्ण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


वर्णन कर देवे फिर भी भक्ति वश आराधनाकी उत्सुकतावश तुम्हारी गुणों की कल्पना करता ही हूँ ॥६॥

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥७॥

अन्वय--हे जिन ! अचिन्त्यमहिमा ते संस्तवः आस्ताम्, भवतः नाम अपि जगन्ति भवतः पाति । निदाघे पद्मसरसः सरसः अनलिः अपि तीव्रातपोपहत-पान्थजनान् प्रीणाति ।

अर्थ – हे जिनेन्द्र ! अचिन्त्य है महिमा जिसकी ऐसा तुम्हारा स्तवन तो दूर ही रहो आपका नाम भी जगत्को संसारदुःखसे बचा लेता है । जैसे कि ग्रीष्मकालमें पद्मसरोवरकी सुगन्धित शीतल शीतल वायु भी तेज गर्मीसे व्याकुल मुसाफिरोंको सुख पहुंचा देती है ।

अध्यात्मध्वनि—हे सर्वरागादिमलोंसे पृथक् रहनेके स्वभाववाले जिनेन्द्र ! चैतन्य भगवान् अचिन्त्य है महिमा जिसकी ऐसा तुम्हारा स्तवन तो दूर ही रहो, किन्तु शुद्धोऽहं ज्ञानमात्रमहं आदि रूपसे आपका नाम लेना, जपना भी जगत्के प्राणियोंको संसारसे रक्षित कर देता है । जैसे ग्रीष्मकालमें कमलोंके तालाबको स्पर्श करती हुई वायु भी तीव्र घामसे पीड़ित मुसाफिरोंको सुख शान्ति पहुंती है ।

सारांश—अनादि अनिधन चैतन्यभावके अनुभवकी तो बात निराली है, किन्तु चैतन्यभावकी कथा, जाप, मानसिक तर्क—ये भी जीवोंको संक्लेश रूप भवसे बचा देते हैं । हे जिन-चैतन्यभाव ! तेरा ही शरण सच्चा है ॥७॥

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवंति,
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबंधाः ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८॥

अन्वय—हे विभो ! त्वयि हृद्वर्तिनि सति जन्तोः निविडा अपि कर्मबन्धाः वनशिखण्डिनि-चन्दनस्य मध्यभागं अभ्यागते भुजङ्गममया इव सद्यः क्षणेन शिथिलीभवति ।

अर्थ—हे विभो ! तुम्हारे, हृदयमें रहनेपर प्राणीके गाढ़े भी कर्मबन्ध वनमयूरके चन्दन वृक्षके बीचमें आनेपर सर्पोंके कुडेरियोंकी तरह शीघ्र ही क्षणमात्रमें शिथिल हो जाते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यभावकर व्यापक विभु ! तुम्हारे हृदयमें आनेपर जन्तुके घने भी कर्मबन्ध शीघ्र शिथिल हो जाते हैं । जैसे कि चन्दनवनके बीच में मयूर के आ जानेपर चन्दनवृक्ष पर लिपटी हुई सर्पोंकी कुण्डलियां शिथिल हो जाती हैं ।

सारांश यह है—कि दर्शनज्ञान सामान्यस्वरूप आत्माके अवलोकन होनेपर कर्मबन्ध सब शिथिल हो जाते हैं ॥८॥

मुच्यंत एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र,
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥९॥

अन्वय—स्फुरिततेजसि गोस्वामिनि दृष्टमात्रे सति प्रपलायमानैः चौरैः पशवः इव हे जिनेन्द्र त्वयि वीक्षिते अपि मनुजा रौद्रैः उपद्रवशतैः मुच्यन्ते एव ।

अर्थ—जैसे स्फुरायमान है तेज जिसका ऐसे सूर्यके दिखनेमें आते ही भागते हुये चोरोंके द्वारा पशुवोंकी तरह, अर्थात् जैसे पशु छूट जाते हैं वैसे ही हे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


जिनेन्द्र ! तुम्हारे दर्शन होते ही मनुष्य कठिन सैंकड़ों उपद्रवोंसे छूट ही जाते हैं।

अध्यात्मध्वनि—हे रागादिभावोंसे रहित शुद्ध ज्ञायकभाव ! तेरे दर्शन करते ही मनुज—विवेकी आत्मा कठिन विकल्परूप सैंकड़ों उपद्रवोंसे शीघ्र ही छूट जाते हैं। जैसे कि स्फुरायमान है तेज जिसका ऐसे सूर्यके उदित होते ही, दिखते ही भागते हुए चोरोंके द्वारा पशु छूट जाते हैं।

सारांश यह है—कि जैसे चोरों गाय भैंसे चुराकर रातमें कहीं लिये जा रहे हों तो सुबह होते ही लोगोंके द्वारा खदेड़नेपर चोरोंसे वे पशु छूट जाते हैं। इस तरह संकल्प विकल्पों द्वारा पीड़ित विकल ज्ञानमय आत्मा अपनी ज्ञान-मयताके दर्शन करते ही शीघ्र विकल्परूप उपद्रवोंसे छूट जाते हैं ॥९॥

**त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव,**
**त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरंतः।**
**यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-**
**मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥१०॥**

अन्वय—हे जिन ! त्वं भविनां कथं तारकः असि यत् उत्तरंतः ते एव हृदयेन त्वां उद्वहंति। यद्वा यत् दृतिः जलं तरति सः किल नूनं अन्तर्गतस्य मरुतः अनुभावः वर्तते।

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! तुम भव्य जीवोंके तारने वाले कैसे हो सकते ? क्योंकि संसारसागरसे तरते हुये वे भव्यजीव ही हृदयसे तुमको उठाते हैं—तिराते हैं। अथवा ठीक ही है क्योंकि मसक जो जलपर तैरती है वह निश्चयसे भीतर रहनेवाली वायुका ही तो प्रभाव है।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्ञायक भाव ! (सहज ही कर्म शत्रुवोंको जीतने वाले) तुम अन्तरात्मावोंके तारने वाले कैसे हो ? क्योंकि तुम तो अव्यक्त हो, किन्तु तिरनेवाले वे ही अन्तरात्मा हृदय अर्थात् मानसिक बोध (क्षायोपशमिक ज्ञान) रूप पर्यायके द्वारा तुम्हें ही उठाते हैं, व्यक्त करते हैं अथवा जो मशक जल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पर तैरती है, वह निश्चयसे भीतर रहनेवाली वायुका ही प्रभाव है।

सारांश—इसी तरह जो अन्तरात्मा तिरते हैं वह उनकी दृष्टिके विषय-भूत चैतन्यभावका ही प्रभाव है ॥१०॥

यस्मिन्हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः,
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धरवाडवेन ॥११॥

अन्वय—यस्मिन् हरप्रभृतयः अपि हतप्रभावाः स्युः सः अपि रतिपतिः त्वया क्षणेन क्षपितः। अथ येन पयसा हुतभुजः विध्यापिताः किं तदपि दुर्धर-वाडवेन न पीतम्।

अर्थ—जिसके विषयमें हर हरि आदि भी प्रभावहीन हो गये ऐसा भी वह काम तुम्हारे द्वारा क्षणभरमें नष्ट हो गया। सो ठीक ही है जिस जलके द्वारा अग्नि बुझा दी जाती है क्या वह जल कठिन बडवानलके द्वारा नहीं शोषित हुआ ?

अध्यात्मध्वनि— जिस मनोज—कामविकार विभावके होनेपर महादेव आदि साधु भी प्रभावरहित हो गये, ऐसा वह काम विकाररूप विभाव भी हे चैतन्यदेव तेरे दर्शनमात्रसे क्षणभरमें नष्ट हो गये। सो ठीक ही है कि जिस जलके द्वारा अग्नि बुझ जाती है क्या वह जल दुर्धर बडवानल-अग्नि क्या पी नहीं लेती अर्थात् उस जलको साक्षात् अग्नि समाप्त कर देती है।

सारांश— यह है कि अनादि अनन्त चैतन्य भगवान्के उपयोगी क्षणभरमें कामविकारको नष्ट कर देते हैं ॥११॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना-
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हंत महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

अन्वय—हे स्वामिन् ! अनल्पगरिमाणं अपि त्वां प्रपन्ना च हृदये दधानाः जन्तवः अहो कथं अतिलाघवेन जन्मोदधिं तरंति ? यदि वा हंत महतां प्रभावः चिन्त्यः न अस्ति ।

अर्थ—हे भगवान् ! अधिक गुरुतर ( वजनदार ) होते हुये भी आपको प्राप्त करनेवाले और हृदयमें धारण करनेवाले प्राणी, आश्चर्य है कि कैसे बहुत ही जल्दी जन्म समुद्रको (से) तिर जाते हैं। अहा ! ठीक ही है, बड़ोंका प्रभाव चिन्तवनमें आ सकने योग्य नहीं अर्थात् अचिन्त्य होता है ।

अध्यात्मध्वनि—हे स्व अर्थात् निजवैभवके अभिन्न अधिकारी ज्ञायकभाव, तुम अनन्त गुणोंकी विशाल गरिमा-वजन वाले हो फिर कैसे भी तुमको पाते हुए और उपयोगमें धारण करते हुए प्राणी आश्चर्य है सरलतासे जन्मसमुद्रको शीघ्र तिर जाते हैं अथवा ( हर्षके साथ ) अहो बड़ोंका प्रभाव विचारमें नहीं आ सकता, बड़ोंका प्रभाव अचिन्त्य है—अलौकिक है ।

सारांश—हे निज चैतन्यभगवान् ! तुम अनन्त गुणोंके स्वामी हो, इतने अनन्त गुणोंसे गरिम हो ऐसे तुमको जो पाते है वे शीघ्र जन्ममरणमय संसारसे तिर जाते हैं। लोकमें यह बात विरुद्ध है क्योंकि जो वजनदार वस्तुको लेकर चले वह समुद्रमें डूबेगा ही तिरेगा कैसे ? परन्तु अन्तरमें बात अलौकिक है। अथवा जो अनन्त गुणोंके अभेदस्वरूप ज्ञायक भावके स्वरूपरत होते हैं उन्हें अलौकिक सुख प्राप्त होता है ॥१२॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो-
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥१३॥

अन्वय—हे विभो ! यदि त्वया क्रोधः प्रथमं निरस्तः तदा वद कर्मचौराः कथं ध्वस्ताः ? यदि वा अमुत्र शिशिरा अपि हिमानी किं नीलद्रुमाणि विपिनानि किं न प्लोषति ?

अर्थ—हे प्रभो ! जब तुमने क्रोध ही पहिले दूर कर दिया तब बतावो कर्मरूपी चोर आपने कैसे नष्ट किये ? अथवा ठीक ही है इस लोकमें भी अत्यंत शीत होकर भी तुषार क्या हरे भरे वृक्ष वाले जंगलोंको नष्ट नहीं कर देती ? अर्थात् नष्ट कर देती है।

अध्यात्मध्वनि--हे चैतन्य विभो ! जब तेरे स्वरूपमें क्रोध ही नहीं है, शुद्ध प्रतिभासमात्र तेरा स्वरूप है, तब बतावो तुम चैतन्यभावने कर्म चोरोंको कैसे नष्ट किया, पृथक् किया। सो ठीक ही है जैसे ठंडा भी तुसार हरे भरे जंगलोंको भस्म कर देता है इसी प्रकारसे यह शान्त अचल चित्प्रतिभास व इसका लक्ष्य कर्मजंगलोंको भस्म कर देता है।

सारांश—अनादि अनंत अहेतुक कर्ताभोक्तादि भावोसे रहित बंधमोक्षकी कल्पनासे दूरवर्ती निजज्ञानस्वभावकी दृष्टि व स्थिरतासे ही कर्मबंधनोंका नाश होता है, संसार क्लेश मिटते हैं। इसलिये सर्वप्रयत्न कर इसकी अभीक्ष्ण आराधना करो ॥१३॥

त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोषदेशे।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-

दक्षस्य संभवपदं ननु कर्णिकायाः ॥१४॥

अन्वय—हे जिन योगिनः परमात्मरूपं त्वं सदा हृदयाम्बुजे कोषदेशे अन्वेषयन्ति यदि पूतस्य निर्मलरुचेः अक्षस्य संभवपदं ननु किं कर्णिकाया अन्यत् वर्तते ?

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव ! योगीजन परमात्मस्वरूप तुमको सदा अपने हृदय कमलरूप भण्डारमें खोजते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र निर्मल कान्तिवाले कमलबीजका उत्पत्तिस्थान निश्चयसे क्या कर्णिकाके अतिरिक्त अन्य हो सकता है ?

अध्यात्मध्वनि—हे सर्वविजयस्वभावी चैतन्य भगवन् ! साधुजन परम ब्रह्मरूप तुमको अपने ही ज्ञानभण्डारमें खोजते हैं, पाते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि जैसे शुद्ध निर्मल कमलबीजका उत्पत्तिस्थान कमलकर्णिका ही है इसी तरह समरस पूरित चैतन्यराय परमब्रह्मभावकी उत्पत्तिका स्थान यह खुद ही ज्ञानस्वभावी है।

सारांश—अपने इन्द्रियोंको संयमित करके, ज्ञानविस्तारको केन्द्रित करके एक सहज सुखानुभवरूप निजचैतन्यभावके अनुभवसे ही निजचित्प्रभासरूप परमात्मस्वरूप प्राप्त होता है, अतः खुद चैतन्यभावका ध्यान करो ॥१४॥

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन ,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके ,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥१५॥

अन्वय—हे जिनेश ! भवतः ध्यानात् भविनः क्षणेन देहं विहाय लोके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

तीव्रानलात् धातुभेदाः अचिरात् उपलभावमपास्य चामीकरत्वं इव परमात्मदशां व्रजन्ति ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव ! जैसे तीव्र अग्निसे सुवर्ण पाषाण शीघ्र पत्थरपनेको छोड़कर सुवर्णपनेको प्राप्त होता है इसी तरह आपके ध्यानसे भव्य जीव क्षण भरमें देहको छोड़कर परमात्मदशाको प्राप्त होते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—स्वभावसे ही दूर कर रागादि भावोंको जीतनेवाले हे चैतन्य भगवान् तुम्हारे ध्यानसे भव्य आत्मा क्षण भरमें देहको छोड़ कर याने विदेह होकर परमात्मावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं । ज्ञानीके तो जिस समय ज्ञान स्वभावकी अभेद आराधना है उसी समय उनके उपयोगमें देह सब छूट ही जाता है और परमात्मस्वरूप आ ही जाता है ।

सारांश—निज विशुद्ध चैतन्यभावकी दृष्टिसे ही भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मका बंधन दूर होता है; परमब्रह्ममय निज अवस्था प्रकट होती है । इस लिये एक अचल स्वसंवेद्य निज चैतन्यभावकी ही आराधना करो ॥१५॥

**अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं,**
**भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।**
**एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि ।**
**यद्विग्रहं प्रशमयति महानुभावाः ॥१६॥**

अन्वय—हे जिन ! भव्यैः यस्य अन्तः सदैव त्वं विभाव्यसे त्वं तदपि शरीरं कथं नाशयसे ? अथ हि मध्यविवर्तिनः एतत्स्वरूपम् अस्ति यत् ते महानुभावाः विग्रहं प्रशमयन्ति ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! भव्य जीव जिस शरीरके अन्तरंगमें तुमको धारण करते हैं सो तुम उस ही शरीरको नष्ट कर देते हो अथवा ठीक ही है मध्यवर्ती आत्मावोंका यह स्वरूप ही है जो वे महानुभाव विग्रह (झगड़ा या शान्त) को शान्त कर देते हैं ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य भगवन् ! जिस प्राणीके हृदयमें आप विराज जाते हैं अथवा जो आत्मा क्षायोपशमिक ज्ञानके साधनसे विरुद्ध चैतन्यभावका उपयोग करते हैं वह चैतन्यस्मरण सर्व दुःखोंके मूल रागादि व उसके कार्यभूत शरीरको नष्ट कर देता है अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्म सभी यत्नोंसे रहित होकर वह स्वयं स्वच्छ हो जाता है। सो ठीक है क्योंकि जो मध्यवर्ती, मध्यस्थ समतापुञ्ज होते हैं वे विग्रह कहिये सर्व विसंवाद व विग्रह कहिये शरीर व उपलक्षणसे द्रव्यकर्म, भावकर्म सभी दुःखोंको दूर कर देते हैं।

सारांश—जिस चैतन्यभावकी आराधनासे सर्व दुःख दूर हो जाते हैं उस चैतन्यभावकी आराधना करो जिससे ज्ञान व सुख सहज व शाश्वत हो जांय ॥१६॥

**आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या,**
**ध्यातो जिनेन्द्र भवतीह भवत्प्रभावः।**
**पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं,**
**किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥१७॥**

अन्वय—हे जिनेन्द्र ! मनीषिभिः त्वदभेदबुद्धया ध्यातः अयं आत्मा भवत्प्रभावः भवति। यथा हि अमृतं इति अनुचिन्त्यमानं पानीयं अपि किं नाम विषविकारं न अपाकरोति ?

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! बुद्धिमान् भक्तोंके द्वारा तुममें अभेदबुद्धिसे ध्यान किया गया यह आत्मा आपके ही तरह निर्विकार हो जाता है। जैसे कि यह अमृत है ऐसा दृढ़ बार बार विचारमें लिया गया जल क्या विषविकारको नष्ट नहीं करता ?

अध्यात्मध्वनि—सर्व कर्मोंसे पृथक् स्वभाव रखनेके कारण सदैव जयशील हे चैतन्य भगवन् ज्ञानप्रेमियों द्वारा तुममें अभेदबुद्धि करके ध्यान किया गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



यही आत्मा-ज्ञान आपके ही तरह प्रभावशाली हो जाता है अर्थात् जब तक यह ज्ञानोपयोग क्षणिक पर्यायोंमें एकत्व, अध्यवसाय करता है तब तक तो यह संसारमें रुलकर निकृष्ट रहता है; किन्तु जब अनादि अनंत अहेतुक निज चैतन्य तत्त्वमें 'यह ही मैं हूँ' ऐसे अभेदसे आराधक होता है तब वह लक्ष्यके अनुरूप शुद्धका उपभोक्ता हो जाता है।

सारांश—अपने ही में अनादि अनंत सदा प्रकाशमान् चैतन्यभावकी ही 'यह मैं हूँ' ऐसे अभेदोपयोगसे आराधना होनेपर यह परमेष्ठी होता है। अतः इस ही निज चैतन्यकी आराधना करो ॥१७॥

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो,
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥१८॥

अन्वय—हे विभो परवादिनः अपि हरिहरादिधिया नूनं वीततमसं त्वां एव प्रपन्नाः हे ईशः किं सितः अपि शंखः काचकामलिभिः विविधवर्णविपर्ययेण नो गृह्यते ? अपितु गृह्यते एव।

अर्थ—हे प्रभो ! परवादीजन भी हरिहर आदिकी बुद्धिसे, निश्चयसे प्रकाशमान तुम ही को प्राप्त हुए हैं। जैसे हे स्वामी ! क्या सफेद भी शंख काच कामला रोग वालोंके द्वारा नाना प्रकारके विपरीत वर्णोंसे नहीं किया जाता, अपितु किया जाता।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्ञानभावसे व्यापक चैतन्य भगवन् ! सर्व मुमुक्षु परवादीजन भी हरिहर आदि किसी भी साकारबुद्धिसे नित्य प्रकाशमान एक स्वरूप तुम ही को प्राप्त होना चाहते हैं; इस ही प्रयोजनको लिये हुए इस स्तवनका स्रोत प्रारंभ हुआ था, परन्तु पर्यायबुद्धि होनेपर किसी आकारमें ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



अटक गये। जैसे कि कामला रोग वाला शंखको ही देखता, परन्तु वह पीले वर्णकी कल्पनामें ही रह जाता है।

सारांश—पर्यायबुद्धि न करके द्रव्यदृष्टिसे, निश्चयदृष्टिसे अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावकी आराधना करो, जिसकी भक्ति-प्राप्तिके लिये ही साकार भक्तिका उद्गम हुआ है ॥१८॥

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि,
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥१९॥

अन्वय—धर्मोपदेशसमये ते सविधानुभावात् जनः आस्ताम् तरुः अपि अशोकः भवति वा दिनपतौ अभ्युद्गते समहीरुहः अपि जीवलोकः किं विबोधं न उपयाति ?

अर्थ—धर्मोपदेशके समयमें आपकी निकटताके प्रभावसे मनुष्य तो दूर रहे, वृक्ष भी अशोक-शोकरहित हो जाता है अथवा सूर्यके उदित हो जानेपर वृक्षों सहित सर्व जीव लोक क्या विबोधको, विकाशको, ज्ञानको प्राप्त नहीं होता है ? अपितु होता है।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य देव ! आपकी अभिमुखताके प्रतापसे ही स्वभाव के सावधानी सहित स्वके प्रतिबोधके समय विविधज्ञानी विद्वानोंकी बात तो दूर रही अर्थात् वे तो शोकरहित निज संवेदक हो ही लेते हैं, किन्तु साधारण ज्ञानी भी केवल स्वपरबोधवाला भी शोकरहित आत्मानन्दी हो जाता है। हाँ, स्वकी चेतना अवश्य चाहिये। जैसे कि दिनपति सूर्यके उदय होते ही कमल आदिक छोटे बड़े बनस्पति सहित जीव समूह विकासको, सजगताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही ज्योतिःस्वरूप ज्ञानस्वभावके उदय होनेपर, लक्ष्यके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

होनेपर पशु पक्षी पक्षी सहित मनुष्य समूह विवोधको, विवेकको प्राप्त हो जाता है।

सारांश—जिसकी निकटतासे, चर्चासे जागृति उत्पन्न होती है उस चैतन्यभावका लक्ष्य ही हितकारी है ॥१९॥

चित्रं विभो कथमवाङ्मुखवृन्तमेव,
विष्वक्पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश,
गच्छन्ति नूनमध एव हि बंधनानि ॥२०॥

अन्वय—हे विभो ! चित्रम् अविरला सुरपुष्पवृष्टिः विष्वक् अवाङ्मुखवृन्तं एव कथं पतति, यदि वा मुनीश नूनं हि त्वद्गोचरे सुमनसां बन्धनानि अध एव गच्छन्ति।

अर्थ—हे प्रभो ! यह आश्चर्य है कि अविरल देवों द्वारा की हुई पुष्पवर्षा सर्व तरफ नीचे हुआ है बंधन (डंठल) जहां इस प्रकार क्यों गिरती है अथवा ठीक है—हे मुनीश निश्चयसे तुम्हारे समीप सुमनसोंके बंधन नीचे हो हो जाते हैं।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यविभो ! पूर्वोपार्जित कर्मके उदयको निमित्तमात्र करके अविरल-लगातार भी होने वाली सुरपुष्प कहिये काम व उपलक्षणसे क्रोध मान माया लोभादिक विभावपरिणाम उनकी वर्षा पराङ्मुख होकर गिरती है नष्ट होती है, यह बड़ा आश्चर्य है अर्थात् तुम्हारे आधारभूत भूमिका में ही तो विभावोंका प्रवेश है, फिर भी ये पराङ्मुख होकर नष्ट हो जाते हैं। सो हे मुनीश, मुनियोंके एक ध्येयभूत आदर्श ईश चैतन्यदेव ! तुम्हारे विषयसे, निकटमें सुमनस् कहिये विवेकी उपयोगोंके रहे सहे विकारके बंधन भी निश्चय अधःअवस्थाको अर्थात् विनाशभावको ही प्राप्त होते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


सारांश—जिस चैतन्य भगवान्की आराधनामें यद्यपि आत्मामें रागादि परिणति उदित होती है तो भी ज्ञानोपयोगसे व चैतन्य स्वरूपसे पराङ्मुख ही रहती है उस चैतन्यभावकी ही आराधना हितकारिणी है ॥२०॥

स्थाने गंभीरहृदयोदधिसम्भवायाः,
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयंति ।
पीत्वा यतः परमसंमदसङ्गभाजो,
भव्या ब्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

अन्वय—गम्भीरहृदयोदधिसंभवायाः तव गिरः पीयूषतां स्थाने समुदीरयन्ति यतः भव्याः तां पीत्वा परमसम्मदसङ्गभाजः तरसा अपि अजरामरत्वं ब्रजन्ति ।

अर्थ—गंभीर हृदयरूपी समुद्रसे निकली तुम्हारी वाणीके अमृतपनेको लोक ठीक ही प्रकार करते हैं, क्योंकि भव्यजीव उस वाणीको पी करके परम आनन्दके पात्र होते हुए शीघ्र ही अजर अमरपनेको प्राप्त होते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यतेव ! जो तुम्हारी आराधना करते हैं वे भव्य जीव अत्यन्त गंभीर हृदयवाले महापुरुष होते हैं । उनके हृदय समुद्रसे निकली हुई तुम्हारी चर्चा करनेवाली वाणी अमृतकी तरह लोकोंको सुख उत्पन्न करने वाली होती है, यह सभी लोग प्रकट सत्य कह रहे हैं । यह बात बिल्कुल सत्य है क्योंकि अन्य भव्य जीव उस वाणीको पीकर उसके अर्थभूत निज आत्मतत्त्व का स्वाद लेकर परम अनुपम आनन्दके पात्र होते हुए शीघ्र ही अजर (बुढ़ापे रहित) एवं अमर (जो कभी मर न सके) भावको प्राप्त हो जाते हैं ।

सारांश—जिस तत्त्व विषयक वाणी सुनकर लोक विलक्षण आनन्द पाते हैं उसके अनुभवमें नियमसे सत्य स्वाधीन आनन्द है । अतः इस ही चैतन्यभाव की आराधना करने योग्य है ॥२१॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदंति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय,
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

अन्वय—हे स्वामिन्! अहं मन्ये यत् सुदूर अवनम्य समुत्पतन्तः शुचयः सुरचामरौघाः वदन्ति, ये अस्मै मुनिपुङ्गवाय नतिं विदधते ते शुद्धभावाः नूनं ऊर्द्ध्वगतयः भवन्ति।

अर्थ—हे स्वामी! मैं मानता हूं कि बहुत दूर तक नम करके ऊपर जाते हुये ये स्वच्छ चामरोंके समूह लोगोंको कह रहे हैं कि जो इस मुनिश्रेष्ठको नमस्कार करते हैं वे नियमसे शुद्धपरिणामवाले होकर ऊर्ध्व-श्रेष्ठ गति वाले होते हैं।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव! बड़े वेगसे कुशलतापूर्वक जो आपके सन्मुख झुकते हैं ऐसे सुरच—भलेप्रकार स्वयंमें रचे हुए, अमर—अन्तरात्माओंके समूह विशिष्ट शुक्लध्यानी होकर उछलते निर्मल ज्ञानधारावोंसे अत्यन्त ऊंचे उठ गये हैं ऐसे अर्हन्तके रूपमें होकर ये जगत्को मानों प्रतिबोध रहे हैं कि हे भव्यों जो इस मुनिपुङ्गव—मुनि कहिये निर्मलज्ञान उसमें श्रेष्ठ अर्थात् ज्ञानस्वभावके लिये अपने उपयोगका झुकाव करते हैं वे नियमसे इसही प्रकार निर्मल भावयुक्त होते हुये अत्यन्त ऊद्र्ध्व कहिये श्रेष्ठ गति वाले अर्थात् श्रेष्ठ अवस्थावाले होते हैं।

सारांश—जिस चैतन्यस्वभावके झुकावसे आत्मा इतना ऊंचा उठ जाता है उस चैतन्यभावका सर्व प्रयत्नसे आदर करो ॥२२॥

श्यामं गंभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम्।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



**आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-**
**श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥**

अन्वय—इह श्यामं गंभीरगिरं उज्ज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थम् त्वाम् भव्यशिखण्डिनः चामीकराद्रिशिरसि उच्चैः नदन्तं नवाम्बुवाहं इव रभसेन अवलोकयन्ति ।

अर्थ—इस जगत्में श्यामवर्ण वाले, गंभीर ध्वनियुक्त स्वच्छ सुवर्णके बने रत्नोंकर जड़ित सिंहासनपर बैठे हुये तुमको भव्यजीव रूपी मोर सुवर्णमय पर्वतकी शिखरपर उच्च गर्जना करते हुये नवीन मेघसमूह की तरह वेगसे देखते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—हेमवर्णकी उपमा जिसकी साहित्यमें है ऐसी रुचि शब्दसे सूचित शुद्धात्मरुचिरूप उज्ज्वल निर्मल सम्यग्दर्शन वही हुआ रत्नसारभूत तत्त्व उसके सिंहासन कहिये उपयोग ( अनुभव ) उसमें बैठे हुये अर्थात् सम्यग्दर्शनके अनुभवके विषयभूत हे अखण्ड चैतन्यदेव ! आप कैसे हैं विषयकषायादिक शत्रुओंके जीतनेके लिये श्यामस्वरूप हैं तथा आपके विषयकी वाणी ही अत्यन्त गम्भीर रागद्वेषादि क्षोभके अवकाशसे रहित है ऐसे उत्कृष्ट, आपको भव्यजीव बहुत ही लगाव व वेगसे अवलोकन करते रहते हैं । जैसे कि गम्भीर गर्जनावाले मेरुशिखरपर स्थित मेघको मयूर बड़े चावसे देखते है ।

सारांश—जो चैतन्यभावसे परिचित है जिसके अनुभवके आसनपर चैतन्य देव विराजमान हो चुका है वे अन्यत्र कहीं नहीं रमते हैं । केवल इस ही निज सहजानन्दमय चैतन्य स्वरूपमें ही रमते हैं और अनाकुल हो जाते हैं । इसही चैतन्यभावकी आराधना सुखार्थियोंका मुख्य कार्य है ॥२३॥

**उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन ,**
**लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव ।**

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



**सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग,**
**नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४॥**

अन्वय— तव उद्गच्छता शितिद्युतिमण्डलेन अशोकतरुः लुप्तच्छदृच्छविः बभूव यदि वा हे वीतराग तव सान्निध्यतः अपि कः सचेतनः अपि नीरागतां न व्रजति ।

अर्थ— तुम्हारे स्फुरायमान स्वच्छ प्रभामण्डलके द्वारा अशोक वृक्ष कान्तिहीन पत्र वाला हो गया सो ठीक है, हे वीतरागदेव ! तुम्हारे समीप मात्र से भी कौनसा सचेतन रागरहितताको प्राप्त नहीं होता ?

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव ! तुम्हारी निर्मल स्वच्छ ज्योतिके पुञ्जसे (जो कि तुमको ही उपादान करके प्रकट होती है) उसके लक्ष्यसे अशोक अवस्था के लिये संतरणका यत्न रखनेवाले साधारण मुमक्षुजन शीघ्र ही नष्ट हो गई है विषयकषायादिक आवरणोंमें छवि कहिये रुचि जिसकी ऐसे हो जाते हैं अर्थात् रागद्वेषकी रुचिरूप महान् पापसे मुक्त हो जाते हैं। सो ठीक ही है— हे अविकारी भाव ! तुम्हारी निकटता पानेसे ऐसा कौन सचेतन—सावधान— बुद्धिमान् आत्मा है जो नीरागपनेको—रागद्वेषरहित परमानन्दमय ज्ञायकभाव को नहीं प्राप्त हो अर्थात्—बुद्धि स्वच्छ होते ही विकाररुचि नष्ट करके सहजानन्दस्वभावकी ओर ही अन्तरात्मा एकाग्रचित्त रहते हैं और फिर सर्व-विकल्पोसे मुक्त होकर शुद्ध स्वसंवेदक हो जाते हैं।

सारांश—एक निज ज्ञायकभावका लक्ष्य ही सर्वहित है जिससे रागादि सर्व विभावोंकी रुचिरूप मिथ्यात्व महापाप नष्ट हो जाता है जिससे सत्यसुख प्राप्त होता है ॥२४॥

**भोः भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-**
**मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रतिसार्थवाहम् ।**

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय ,
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥२५॥

अन्वय—हे देव ! अभिनभः नदन् ते सुरदुन्दुभिः जगत्त्रयाय "भोः भोः प्रमादं अवधूय निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम् एनं आगत्य भजध्वं" एतत् निवेदयति इति अहं मन्ये ।

अर्थ—हे देव ! आकाशमें शब्द करती हुई तुम्हारी दिव्यध्वनि तीन लोक के जीवोंको 'हे प्राणियों प्रमादको छोड़कर मोक्षपुरीके सार्थवाह इन भगवान्को आकर भजो' ऐसा निवेदन करती है यह मैं मानता हूँ ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव ! तुम्हारी सुरदुन्दुभि अर्थात् ऐश्वर्यके द्वारा समस्त लोकमें हो रही पूर्ण-व्याप्ति ( पुर प्रसवैश्वर्ययोः, द्यामुभति उभ शब्द पूरणयोः) अर्थात् समस्त आकाशमें फैली हुई, ज्ञानीजनोंके प्रति मानों अव्यक्त शब्द करती हुई तीनों लोकोंको ( जो जो उससे परिचित हैं ) यह समझा रही है कि भो ज्ञानीजनो प्रमादको छोड़कर इस मेरे निकट आओ, अपने ही समीप अपने ही इस स्वभावकी सेवा करो, यह निर्वृतिपुरी—मोक्षनगरीका सार्थवाह कहिये ले जाने वाला है । वस्तुतः अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्व-भावको कारणरूपसे उपादान करना ही सम्यक् पूर्ण ज्ञानोपयोगका जनक है । यह ही स्वभाव मोक्षपुरीका सार्थवाह है । अतः इस स्वभावकी ही सेवा करो ।

सारांश—चैतन्यभावकी आराधना ही सर्वसुख है, अतः सुखका अन्य उपाय न सोचकर केवल इसही की आराधनामें प्रवृत्त होओ ॥२५॥

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ ,
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः ।
मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्र-
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥२६॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

अन्वय—हे नाथ ! भवता भुवनेषु उद्योतितेषु विहताधिकारः तारान्वितः अयं विधुः मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्रव्याजात् त्रिधा धृततनुः ध्रुवं त्वां अभ्युपेतः ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपके द्वारा तीनों लोकों के प्रकाशित होने पर नष्ट हो गया है अधिकार जिसका, ऐसा ताराओंकर सहित यह चन्द्रमा मोतियोंके समूह से कलित शोभायमान स्वच्छ छत्रके छलसे तीन तीन शरीर धारण करता हुआ निश्चयसे आपकी सेवामें आया है ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव ! आपके द्वारा लोकके प्रकट किये जानेपर अर्थात् आपकी ही ज्ञानगुणकी परिणतिरूप सर्वज्ञताके विकसित होनेपर एवं निमित्तनैमित्तिकभावके फलस्वरूप परमौदारिक शरीरके द्युतिमान् होनेपर छिन गया है अधिकार जिसका, ऐसा होता हुआ यह चन्द्रमा ताराओं सहित छत्रके व्याजसे तीन तीन शरीर धर कर आपकी सेवामें मानों उपस्थित हुआ है । अथवा आपके प्रकाश पानेपर विधु कहिये प्रणयादि कर्म (विध्यति विरहिणं विधुः, व्यध् ताडने) अधिकारभ्रष्ट होकर तारनहार तीर्थेश्वरके पीछे रही सही शानसे गमन करता हुआ नाना विभव संयुक्त छत्रादिके व्याजसे कई शरीर धर कर सेवामें आया है । कर्म जब अधिकारभ्रष्ट हुआ तब वह आजीवन अर्थात् जब तक कर्मका जीवन है तब तक नाना वैभवके बहाने सेवा करता रहता है ।

सारांश—जिस चैतन्यभावकी स्वाभाविक कला प्रकट होने पर बड़े सम्मानोंमें गुजर कर मोक्ष प्राप्त होता है उस चैतन्यभावकी आराधना किस विवेकीको इष्ट नहीं होगी ॥२६॥

**स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन ,**
**कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन ।**
**माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन ,**
**सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७॥**

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


अन्वय—हे भगवन् ! अभितः प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन स्वेन कान्तिप्रताप-यशसां सञ्चयेन इव माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन सालत्रयेण विभासि।

अर्थ—हे भगवन् ! चारों ओरसे पूर लिया है त्रिलोकपिण्डको जिसने, ऐसे अपने कान्ति, प्रताप और यशके सञ्चयकी तरह माणिक्य, सुवर्ण और चाँदीसे निर्मित तीन कोटोंसे शोभित होते हो।

अध्यात्मध्वनि- हे चैतन्यदेव ! चारों ओरसे पूर लिया है त्रिलोकपिण्ड को जिसने, ऐसी कांति कहिये श्रद्धा ( काम्यते-कान्तिः ) प्रताप अर्थात् विशुद्ध ज्ञानस्वभावमें प्रतपन—सम्यग्बोध एव यश कहिये निर्मलताकी प्रसिद्धि—इन तीनों गुणोंके सञ्चयस्वरूप चैतन्यभावसे सर्वतः शोभायमान हो रहे हो जैसे कि साकार परमात्मावस्थामें आप समवसरणमें स्थित होकर रत्नरचित सालोंसे आप शोभायमान होते हो। इस आत्माका सुरक्षाका अभिन्न साधन इस ही की शक्तियोंका पिण्ड है जिन शक्तियोंमें प्रधान शक्तियाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं। जब दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी यथार्थस्वरूपसे एकता हो जाती है यह चैतन्य विशुद्ध एकभाव रहता है और वह अपनी निर्मल ज्ञप्तिसे जिसमें दर्शन, चारित्र अन्तर्लीन है लोकालोकव्यापक हो जाता है। लोकालोकव्यापक होनेसे यह तीनों लोकोंका समुदाय वहाँ एक पिण्डरूप ज्ञात होता है। उस स्वभावसे आप प्रतिप्रदेश प्रतिसमय शोभायमान होते हो।

सारांश—जो चैतन्य चैतन्यभावसे एक, व्यापक है उसकी आराधनासे ही सर्व हित है ॥२७॥

दिव्यस्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वाऽपरत्र ,
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥२८॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अन्वय—हे जिन ! दिव्यस्रजः नमत्त्रिदशाधिपानां रत्नरचितान् अपि मौलिबन्धान् विहाय भवतः पादौ श्रयन्ति, यदि वा त्वत्सङ्गमे सति सुमनसः अपरत्र न रमन्ते ।

अर्थ— हे जिनेश ! दिव्यमालायें नमस्कार करते हुये देवेन्द्रोंके रत्नरचित भी मौलिबंधोंको छोड़ करके आपके चरणोंका आश्रय लेती हैं अथवा तुम्हारे संगम होनेपर सुमनस अन्यत्र रमण नहीं करते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव ! ये दिव्यस्रज अर्थात् आत्मीय परम आनन्द (स्रजति सुखमिति स्रक्) बड़े बड़े पुण्यशाली देवेन्द्रोंके मौलिबंध अर्थात् आत्मगत शुभबंधोंको भी ( मूलस्य अदूरे भवो मौलिः ) छोड़कर अर्थात् पुण्यप्रकृतियोंकी अधीनता न स्वीकार कर तुम्हारे विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप पादद्वयोंका आश्रय करते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि अनुपम सत्य आत्मीय आनन्द, बड़े बड़े देवेन्द्रों के भी जिनके अतिशयपुण्यका बध है, नहीं होता है वह तो जहां ज्ञान, दर्शन निर्मल है ऐसे चैतन्यका ही आश्रय करता है । सो ठीक ही है तुम्हारे अभिन्न संगमको पाकर वह अन्यत्र कैसे रमे ? जैसे ज्ञेयाकार द्वारा तुम्हारे संगमको पाकर विवेकी लोक अन्यत्र नहीं रमण करते ।

सारांश—सत्य परम आनन्द एक चैतन्यभावके अनुभवमें ही है ॥२८॥

**त्वं नाथ जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि ,**
**यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् ।**
**युक्तं हि पार्थिवनिपस्यसतस्तवैव ,**
**चित्रं विभो यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥२९॥**

अन्वय—हे नाथ ! त्वं जन्मजलधेः विपराङ्मुखः अपि निजपृष्ठलग्नान् असुमतः यत् तारयसि तत् पार्थिवनिपस्य सतः तव युक्तम् एव किन्तु चित्रम् यत् त्वं कर्मविपाकशून्यः असि ।

अर्थ—हे नाथ ! तुम संसारसागरसे अत्यन्त पराङ्मुख होते हुये भी अपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


पीछे लगे हुये को अर्थात् अनुयायी जीवोंको जब तार देते हो वह मिट्टी के पके हुये घड़े की तरह तुम्हारे उचित ही है। किन्तु आश्चर्य है कि तुम कर्मोंके विपाकसे शून्य ही हो।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य प्रभो ! तुम जन्ममरणादिमय संसारसागर से अत्यन्त विमुख हो तुम्हारे स्वरूपमें जन्म तथा मरणादि कुछ भी नहीं है। आप इस दुःखसागरसे परे हो, फिर जो तुम्हारे पीछे लग जाता है, तुम्हारा स्मरण ध्यान अनुभव करता है उस आत्माको आप तार देते हो। भावार्थ—दुःखसंकट से तरनेका उपाय चैतन्यस्वभावका आश्रय है। यह बात ठीक ही है—संसारसागर का तारक वही हो सकता जो संसारके स्वरूपसे परे हो, उसीके लक्ष्यरूप परिणाममें यह शक्ति है। जो उत्तरोत्तर शुद्ध स्थितिपर पहुंचानेके पूर्ववर्ती होते हैं। लोकमें भी देखा जाता है कि घड़ेको औंधा मुख करके ऊपर आश्रय लेकर नदी समुद्रमें तिरो तो तिरनेका निमित्त होता है। साथ ही एक आश्चर्य है घड़ा तो पका हुआ ही इस कार्यका निमित्त हो पाता किन्तु तुम तो कर्मविपाक से शून्य हो। कर्मविपाकका अनुभव निश्चयतः पुद्गलवर्गणामें है, व्यवहारतः पर्यायमें है, स्वभावमें तो है ही नहीं। विशेष—लौकिक बातमें तो इसका आश्चर्य माना जाता है कि जो पराङ्मुख है वह तारेगा कैसे ? किन्तु परमार्थ में यही बात ठीक है कि जो पराङ्मुख है वही तार सकता है।

सारांश—भवसागरसे तिरनेका उपाय चैतन्यस्वभावका आश्रय है। अतः इसको लक्ष्य करके सहजवृत्तिरूप परिणमना ही भला है ॥२९॥

**विश्वेश्वरोऽपि जनपालक दुर्गतस्त्वं,**
**किंवाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।**
**अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव,**
**ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतु ॥३०॥**

अन्वय—हे जनपालक ! त्वं विश्वेश्वरः अपि दुर्गतः किं वा अक्षर-प्रकृतिः अपि त्वं अलिपिः, हे ईश ! कथंचित् अज्ञानवति अपि त्वयि विश्वविकासहेतु ज्ञानं सदा स्फुरति।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



अर्थ—हे जनपालक ! तुम विश्वके ईश्वर होकर भी दुर्गत हो और अक्षरस्वभाव होकर भी लिपि रहित हो। हे ईश ! कथंचित् अज्ञानवान् होनेपर भी तुममें ही विश्वको जाननेवाला ज्ञान सदा स्फुरित रहता है।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव ! जीवोंकी पालना करनेवाले (अर्थात् आपके विकास व अवलोकनसे ही आत्माकी सत्य पालना होती है) हे जनपालक आत्मस्वभाव ! तुम सर्व विश्वके ईश्वर हो (स्वलक्षणसे सबमें एक हो) सर्व व्यवसाय, परिणमन, आकार आदिके तुम ही मूल आधार हो अर्थात् तुम्हारे बिना तुम्हारा परिणमन नहीं। परिणमन बिना ज्ञान व जीवके अभावमें व्यवसाय, शुभाशुभ परिणति, मुमुक्षुओंको शुद्ध आदर्शका मिलना अथवा जो भी आकार दिखता वह कैसे होगा ? जो भी दिखता है उस सबमें जीव था या है तब आकार है—इस तरह अनेक हेतुओंसे तुम ही विश्वके ईश्वर हो, फिर भी दुर्गत अर्थात् दरिद्र हो यह विरोध है। परिहारमें अर्थ है दुर्गत हो अर्थात् अगम्य हो, कठिनतासे ही जाननेमें आ सकने योग्य हो। हे ईश ! हे स्वामी ! हे चैतन्यस्वरूप ! तुम ही ईश हो तुम्हारे सद्भावसे ही सर्वजागृति है। हे ईश ! अक्षरस्वभाववाले होकर लिपि—लेखनरहित हो यह विरोध है। परिहारमें यह भाव है कि आप अक्षर (न क्षर) अर्थात् अविनाशी प्रकृति (स्वभाव) वाले हो और अलिपि अर्थात् लेप रहित हो। हे देव तुम अज्ञानवान् हो और तुममें विश्वको जाननेवाला ज्ञान स्फुरित होता है यह विरोध है उसके परिहारमें यह भाव है कि तुम अज्ञान् अवति, अज्ञ मूर्खोंकी रक्षा करनेवाले हो अर्थात् अज्ञ प्राणी किसी भी प्रकार विकल्पसे दूर होकर निज चैतन्यस्वभावके आश्रयसे निज चैतन्यस्वभावको देख लेता है तो उसकी सदाको रक्षा हो जाती है तथा तुम ज्ञानमय हो, इसी कारण विश्वज्ञान तुममें ही है।

सारांश—चैतन्यस्वभावको अच्छी तरह पहचानने-अनुभवनेपर ही शुद्ध हित है ॥३०॥

**प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषा-**
**दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।**

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

अन्वय—हे नाथ ! शठेन कमठेन रोषात् भारसंभृतनभांसि यानि रजांसि प्राक् उत्थापितानि तैः तु तव छाया अपि न हता, परं अयं एव दुरात्मा हताशः सन् अमीभिः ग्रस्तः ।

अर्थ—हे नाथ ! दुष्ट कमठने क्रोधसे, भारसे आकाशको छानेवाली जो धूल पहिले उड़ाई उससे तो आपकी छाया भी नहीं नष्ट हुई; किन्तु यह ही दुरात्मा हताश होता हुआ इन्हीं से जकड़ा गया ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य देव ! आपके शरणसे पले पुषे अध्यवसानभावमय कमठ कहिये कामनापूर्ण अथवा के शिरसि अथवा आत्मनि उपरि मठन्ति मंदति वसन्ति वा कमठः यह कमठ विभाव स्वभावके शिर पर बना है अथवा ऊपर ही रहता है स्वरूपमें प्रवेश नहीं करता। शठ कहिये सुखविध्वंसक, विभाव परिणामने पहिले अपने प्रवाहसे भर दिया है हिंसात्मकता (गर्भहिंसयां) जिसमें ऐसे कर्मरूप रज आवरण उठाये अर्थात् आपके एक क्षेत्रावगाहमें रखे तो भी हे नाथ, उन सर्व कर्मआवरणोंसे भी तुम्हारी छाया भी अर्थात् रंचमात्र भी हत्या न हुई किन्तु उन कर्मोंसे यह ही दुरात्मा अर्थात् अशुद्धपरिणामग्रस्त हुआ ग्रसा गया और इसी कारण पद पदमें हताश बना रहता है। तात्पर्य—परिणाम ही कर्ता है और परिणाम ही भोक्ता है किन्तु अनादि अनंत एकत्वगत हे चैतन्यस्वभाव ! तुम तो वही एक ही विराजे रहते हो, अचल हो, तुम्हारे स्वलक्षणका परिवर्तन परिणामोंकी करतूतोंसे नहीं होता।

सारांश—जो अनादि अनंत अहेतुक कर्तृत्वभोक्तृत्वभावरहित चैतन्यस्वभाव है उसकी ही आराधना करो, जिससे आराधकपरिणाम सुखी बना रहे ॥३१॥

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमं,
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दभ्रे,
तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारि कृत्यम् ॥३२॥

अन्वय—अथ हे जिन ! दैत्येन गर्जदूर्जितघनौघं भ्रश्यत्तडित् मुसलमांसल घोरधारं अदभ्रभीमं यत् दुस्तरवारि मुक्तं तेन तस्य एव दुस्तरवारि कृत्यं दभ्रे।

अर्थ—और, हे जिनेन्द्र ! उस दैत्यने गर्ज रहे हैं मेघसमूह जिसमें, और गिर रही है बिजली जिसमें तथा मूसलकी तरह है मोटी धार जिसमें ऐसा घोर भयंकर जो विकटजल छोड़ा था उस वृष्टिसे उस दैत्यने अपना कठिन तलवार जैसा कार्य कर लिया था।

अध्यात्मध्वनि—जिन अर्थात् अपने स्वरूपस्वभावसे सर्व विकार रहित होनेके कारण हे विजयी चैतन्यदेव ! यद्यपि ये कर्मदैत्य बड़े तीव्र उदय करके भयंकर अध्यवसानभावोंको आपके प्रति छोड़ते हैं, जो अपने प्रकृति विद्युतसे तीक्ष्ण निशाना करते हुए विपाकमेघोंसे कठिन हैं, कठिनतासे ही निवारे जा सकने योग्य हैं तथापि आपके अवलोकनके प्रभावसे यह सारा प्रहार आपको तो बाधा नहीं पहुंचा सकता किन्तु कर्मका ही घात कर देता है अर्थात् खुदका इठलाव खुदका विनाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि कर्म उदयमें आकर नष्ट ही तो होते हैं। यह चैतन्य तो पहिलेकी तरह ही अचल ही बना रहता है। ऐसा चैतन्य प्रभुका अविचल स्वरूप है।

सारांश—तीव्र कर्मोदयोंसे भी विचल न होने वाला यह चैतन्य स्वरूप ही सुखार्थियोंका आराध्य है ॥३२॥

ध्वस्तोर्द्ध्वकेश विकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः,
सो स्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥३३॥

अन्वय—तेन ध्वस्तोर्द्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्डप्रालम्बभृद् भयदवक्त्रवि-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



निर्यदग्निः यः प्रेतव्रजः भवन्तं अपि ईरितः सः अस्य प्रतिभवं भवद्दुःखहेतुः अभवत् ।

अर्थ—उस कमठके द्वारा मुड़े हुए एवं विकृत आकृति वाले नरकपालोंकी मालाको धारण करने वाला एवं भयंकर मुखसे निकल रही है अग्नि जिसके ऐसा पिशाचसमूह जो आपके प्रति प्रेरित किया गया, वह इस दैत्यके ही प्रतिभवमें दुःखका कारण हुआ ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्यदेव ! इस कमठके द्वारा (के मण्ठतीति कमठः) विभावके द्वारा आपके प्रति प्रेत (प्रकर्ष वेगसे समयपर प्राप्त हुए जो क्रोधादिक भाव ये ) प्रेरित किये गये हैं । यह क्रोधादिक प्रेतसमूह जिनका महा विकृत आकार कहिये स्वरूप है ऐसे विनाशिक वृत्तियोंकी सीमित संतति रखने वाले और जिनके फलस्वरूप अति दुःसह्य संताप प्रकट हो रहा है—ऐसा प्रेतव्रज आपके समीप आया किन्तु इन सब विभावोंसे हे चैतन्यस्वरूप ! तुम्हारा बिगाड़ नहीं हुआ अर्थात् तुम भोक्ता नहीं हुए, वह सब उन ही विभावोंके संसारदुःखका कारण हुआ । तात्पर्य—क्रोधादिक वृत्तियोंसे जो विशेष परिणाम है उससे विशेष परिणाम ही ऐसे तीव्र क्लेशोंका अनुभव करनेवाला होता है ।

सारांश—विशेषतत्त्व ही कर्ता भोक्ता है, सामान्यतत्त्व कर्तृत्वसे व भोक्तृत्व से रहित है । यद्यपि ये दोनों पृथक् सत् नहीं हैं, एक सत् है, तथापि दृष्टिभेद-से स्वलक्षणभेदसे यह केवल लगाना चाहिये ।।३३।।

धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः,
पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः ।।३४।।

अन्वय—हे भुवनाधिप ! ये जन्मभाजः विधुतान्यकृत्याः भक्त्या उल्लसत्पुलक-पक्ष्मलदेहदेशाः तव पादद्वयं विधिवत् त्रिसन्ध्यम् आराधयन्ति, हे विभो भुवि ते एव धन्याः ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

अर्थ—हे लोकेश्वर ! जो जीव छोड़ दिये हैं अन्य कार्य जिसने एवं भक्तिसे उल्लसित रोमाञ्चसे युक्त है शरीरावयव जिनके, ऐसे होते हुए तुम्हारे चरणकमलों की तीनों काल आराधना करते हैं वे संसारमें धन्य हैं।

अध्यात्मध्वनि—हे लोकेश्वर ! समस्त लोकमें आपके सद्भावसे ही समस्त ठाठ है अतः लोकेश्वर तुम ही हो। हे भुवनाधिप चैतन्यदेव ! जो अन्तरात्मा चेतनभावके अतिरिक्त अन्य कृत्योंको छोड़ कर जिस भावमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी संधि है अर्थात् जहां तीनों एक चेतन परिणतिमें अन्तर्लीन हैं उस अभेदाराधनापूर्वक विधिसे अर्थात् भेदविज्ञान करके अभेदस्वभावमें आकर तुम्हारे ज्ञान दर्शन रूप उपयोग सामान्यकी आराधना करते हैं वे धन्य हैं। वे किस प्रकार परिणमते हुए आराधना करते हैं ? चैतन्य भावकी भक्ति, सेवा व अनुभवसे उल्लसित याने विकसित है अभिन्नपरिणत जो ज्ञानमय शरीर उसके सर्वदेश जिनके, ऐसे होते हुए आराधक पुरुष धन्य हैं। ये ही आत्मीय सहजसुखके पात्र हैं।

सारांश—जिस ज्ञानस्वभावकी आराधनामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता है वह मोक्ष मार्ग है, सुख शान्तिका उपाय है। अतः उस एक चैतन्यभावकी आराधना करो ॥३४॥

**अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश ,**
**मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।**
**आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे ,**
**किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥३५॥**

अन्वय—हे मुनीश अस्मिन् अपारभववारिनिधौ त्वं मे श्रवणगोचरतां न गतः असि इति मन्ये, तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे आकर्णिते सति किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति।

अर्थ—हे मुनीश इस अपार संसारसागरमें तुम मेरे कर्णगोचर नहीं हुए

Version 1

हो क्योंकि तुम्हारे नाम रूपी ही पवित्र मन्त्रके सुन लेनेपर क्या विपत्तिरूपी सर्पिणी क्या समीप आ सकती है ? नहीं।

अध्यात्मध्वनि—मुनियोंके उत्कृष्ट आराध्य होनेसे एवं मुनि अर्थात् ज्ञानभाव उसके ईश होनेसे हे मुनीश चैतन्य प्रभो ! इस रागद्वेषादि विभावमय संसारके प्रवाहमें बहते हुए मैंने ( उपयोग ने ) तुमको सुना भी नहीं है अर्थात् तुम उपयोगके विषय नहीं हो पाये ऐसा मैं मानता हूँ। यह उपयोग अनादिसे परभावमें लिप्त रहा है। ये रागादिक तो चैतन्यभाव का अनुमान कर लेनेमें हेतु बन सकते थे सो रागादिमय ही अपनेको मान लेनेके कारण चैतन्यस्वरूप का नाम तक भी भावपूर्वक नहीं सुना। क्योंकि यदि शुद्धचिद्रूप नामक पवित्र मन्त्र सुन लिया होता अर्थात् शुद्धचिद्रूपोऽहके अनुसार आत्मस्वभाव को परख लिया होता तो संकल्प विकल्पमय विपत्ति रूप विषधरी क्या लेश भी उदित हो सकती है ? कभी नहीं। अपने आपका जैसा स्वभाव है वैसा उपयोगमें बने रहनेपर लौकिक स्थूल औपचारिक आपदावोंकी तो बात ही दूर रहो लेश भी संकल्प विकल्परूप आपदा नहीं रहती।

सारांश—जिस चैतन्यभावकी आराधनामें विपदाका नाम भी नहीं है उस शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान, आराधन ही सर्वोत्तम सारभूत है ॥३५॥

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव ,
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश पराभवानां ,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६॥

अन्वय—हे देव मन्ये—जन्मान्तरे अपि ईहितदानदक्षं तव पादयुगं न महितम्। हे मुनीश ! तेन इह जन्मनि अहं मथिताशयानां पराभवानां निकेतनं जातः।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अर्थ—हे प्रभो ! मैं ऐसा मानता हूँ कि पूर्व जन्ममें भी इष्ट फल देनेमें समर्थ तुम्हारे चरणयुगलोंको नहीं पूजा। हे मुनीश ! इस ही हेतु इस भवमें मर्मभेदी तिरस्कार अपमानोंका घर बना हुआ हूं।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिस्वरूप ! मैं ऐसा समझता हूं कि मैं पूर्वजन्ममें भी तुम्हारे पादयुगल प्रधानचरण ज्ञानदर्शनस्वरूपकी पूजा नहीं की, ज्ञान एवं दर्शनका निरुपधिक अनौपचारिक परिणमनका अवलोकन भी नहीं किया होगा। यह अवलोकन जिस समय रहता है अथवा इसका लक्ष्य रहता है तब शेष बचे हुए उदित रागांश विशिष्ट धर्मानुरागरूप परिणत हो जाते हैं और वहां विशिष्ट पुण्यका बंध होता है जिसके उदयकालमें जीवको पराभवका आस्वाद तो होता ही नहीं है प्रत्युत सुयशका पात्र हो जाता है तथा परमार्थमें भी विभावरूप पराभवोंका पात्र नहीं होता है। इन विभावोंने चैतन्यप्रभुके असेवकका आशय मथ डाला है, मलिन कर डाला है ऐसे विभावोंका, पराभवों का घर ज्ञानी नहीं बनता है। यह कोई पश्चात्ताप नहीं किया जा रहा है, चैतन्यप्रभुकी ही आराधना की जा रही है। यह अभावमुखसे चैतन्यभावका ही स्मरण है। इस समय चैतन्यभावकी आराधनामें ही रहूं ताकि परलक्ष्यरूप मथिताशय पराभावोंका घर न बनना पड़े इसकी उमंग है, इसकी दृढ़तर भावना है।

सारांश—चैतन्यस्वभावके आराधकके उपयोगमें कोई पराभव नहीं है ॥३६॥

**नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन,**
**पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।**
**मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,**
**प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥३७॥**

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


अन्वय—हे विभो ! मोहतिमिरावृतलोचनेन मया पूर्वं सकृत् अपि नूनं त्वं प्रविलोकितः न असि, हि अन्यथा प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः मर्माविधः एते अनर्थाः मां कथं विधुरयन्ति ?

अर्थ—हे प्रभो ! मोहान्धकारसे आवृत हैं लोचन जिसके, ऐसे मेरे द्वारा पहिले एक बार भी निश्चयसे तुम भले प्रकार नहीं देखे गये हो अन्यथा बड़े बड़े मर्मभेदी वे अनर्थ मुझे क्यों दुःखी करते ?

अध्यात्मध्वनि—इन प्रकरणोंमें भक्त तो उपयोग है और प्रभु चैतन्यस्वरूप है। भक्त कहता है कि हे व्यापक विष्णुस्वरूप चैतन्यदेव ! मेरे लोचन अर्थात् विवेक शक्ति मोहसे ढकी हुई थी सो तुमको पहिले एक बार भी न देख पाया। क्योंकि यह उपयोग जब विभावकी ओर जुट जाता है तब चैतन्यस्वरूप सामान्यस्वभावकी ओर इसकी दृष्टि नहीं होती। इसी हेतु जो अब तक आकुलता परिणामरूप व्यथा जो कि प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः हैं इन विभाव परिणामोंकी प्रबन्धगति ( प्रवाहपरम्परा ) बढ़ रही है इन विपदावोंकी प्रबन्धगति ह्रासकी ओर नहीं होती तथा ये संकल्प विकल्परूप अनर्थ मर्मभेदी हो रहे हैं, मेरा मर्म जो समरसपरिपूर्ण ज्ञातृत्व है उसको भेद रहे हैं। हे चैतन्यस्वभाव तुम तो निकट ही हो किन्तु यदि तुम्हें देख पाया होता तो ये अनर्थ मुझे कैसे दुःखी कर सकते थे ? यह बात पूर्णतया निश्चित है कि जो उपयोग अपने ही मूल आधार स्वरूप परिणामिकभावका अवलोकन कर लेता है वह निजको निज परको पर जाननेकी दृढ़तमश्रद्धावाला हो जानेसे आकुलित नहीं होता, आकुलताकी मूलभित्ति भ्रान्ति ही है, भ्रान्तिके नष्ट होते ही आकुलताके सब चित्र नष्ट हो जाते हैं।

सारांश—इस चैतन्यस्वभावकी आराधना करो, इसमें कोई भी विपदा स्थान नहीं पाती ॥३७॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं,
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥३८॥

अन्वय—हे जनबांधव! मया आकर्णितः अपि महितः अपि निरीक्षितः अपि नूनं भक्त्या चेतसि विधृतः न असि, तेन अहं दुःखपात्रं जातः अस्मि, यस्मात् भावशून्याः क्रियाः न प्रतिफलंति।

अर्थ—हे जनबन्धो! अथवा मेरे द्वारा सुने गये पूजे गये देखे गये होकर भी निश्चयसे भक्तिपूर्वक धारण किये गये नहीं हो, इसीसे मैं दुःखोंका पात्र हो रहा हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रियायें फलती नहीं है।

अध्यात्मध्वनि—जन्म लेते रहनेवाले विभावोंमें जुट कर नवीन नवीन अवस्था धारण करनेवाले इस उपयोगके बांधव अर्थात् हे चैतन्यस्वरूप! तुम्हारे अवलोकनमें आने मात्रसे ही कल्याण हो जाता है अतः हे जनबांधव! मेरे द्वारा तुम सुने भी गये, विशुद्धपरम्परासे पूजे भी गये, देखे भी गये किन्तु निश्चयसे मेरे ही मूल आधारभूत तेरे अर्थात् स्वके आश्रयसे निज स्वभावकी भक्तिसे तुम्हें चित्तमें धारण नहीं किया। चैतन्यस्वरूप पहिले व्यवहार विधिसे जानकर निश्चयको पहिचानकर निश्चयभावनारूप विकल्पसे चित्तमें धारण किया जाता है, अनंतर सर्वविकल्पसे रहित चैतन्यस्वभावका अनुभवमें धारण होता है सो आप अनुभवमें नहीं आये इसीसे मैं परोपयोगी होकर विपदावोंका पात्र ही रहा। यद्यपि विपदावोंको मेटनेके लिये अनेक परक्रियायें विभावमें की, उनसे तो विपदावोंके छूटनेकी आशा ही क्या थी किन्तु आपको सुना पूजा ध्याया वहां भी मात्र परलक्ष्य या अनुरागका आश्रय रहा। निश्चयसे चैतन्य स्वभावके आश्रयसे शून्य विकल्परूप क्रियायें शुद्ध सुखरूप फलको नहीं दे सकती हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


सारांश—चैतन्यस्वभावके आश्रयसे हुई निजभक्ति मोक्षमार्गको पुष्ट करती है, अतः इस ही पारिणामिक भावका आश्रय लो ॥३८॥

हे नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य,
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य।
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥३९॥

अन्वय—हे नाथ ! दुःखिजनवत्सल, हे शरण्य, कारुण्यपुण्यवसते, वशिनां वरेण्य, महेश, भक्त्या, नते मयि दयां विधाय दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि।

अर्थ—हे नाथ, हे दुःखीजनों के वत्सल, हे शरण, हे दयाकी पवित्रवसति, हे जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ हे महेश ! भक्तिसे नत मुझपर दया करके दुःखाङ्कुरके नाश करनेमें तत्परता कीजिये।

अध्यात्मध्वनि—सर्वगुण पर्यायोंके एकमात्र मूल होनेसे हे नाथ चैतन्यभाव तुम दुःखी प्राणियोंके दर्शन मात्रसे दुःखके हरनेवाले प्रेमी हो, जो तेरी शरणमें आ जाता है उसकी निरन्तराय प्रतिपालना आपके आश्रयसे होती ही है। इस पवित्र स्वदयाके पवित्र वसति, निवास आधार तुम ही हो, जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ हो, निर्मल हो, स्वभावसे ही आप ज्ञानदर्शनमात्र हो, वहाँ विषयकषायका आधिपत्य नहीं है, ऐसे हे महान् ईश ! भक्तिसे निज स्वभावके आश्रयसे नम्रीभूत अभी ही होने वाले—रत होने वाले इस भक्तपर, सेवक—उपयोग पर दयाको करके दुःखाङ्कुरके अर्थात् राग द्वेष मोह विभाव—इनके विनाश की तत्परताको करिये। इसका तात्पर्य यह है कि चैतन्य प्रभुके अवलोकनसे, अनुभवसे, भजनसे समस्त दुःखोंको दूर कर लेने वाली निजस्वभावसेवारूप स्वदया प्रकट ही होती है। यहाँ दुःख दूर करो—इसका अभिप्राय "हे चैतन्य-प्रभो सदा अनुभवमें रहो" इस भावनासे है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org



सारांश—चैतन्यप्रभुकी सेवासे समस्त दुःखसमूह दूर हो जाते हैं ॥३९॥

निःसख्यसार शरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपुप्रथितावदातम् ।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो,
वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ॥४०॥

अन्वय—हे भुवनपावन ! निःसख्यसारशरणं शरणं शरण्यं सादितरिपु-प्रथितावदातम् त्वत्पादपङ्कजं आसाद्य अपि प्रणिधानवन्ध्यः अस्मि तत् हा हतः अस्मि ।

अर्थ—हे लोकको पवित्र करनेवाले प्रभो ! निर्मित्र पुरुषके सार आश्रय-भूत शरण शरणागतप्रतिपालक ! एवं कर्मशत्रुवोंके विजयसे प्रसिद्ध है विक्रम जिसका, ऐसे तुम्हारे चरण कमलोंको प्राप्त करके भी आपके ध्यानसे रहित होता हुआ निष्फल हूँ तो हाय मैं बरबाद हूँ ।

अध्यात्मध्वनि—अवलोकन स्मरण अनुभवन मात्रसे तीन लोकके भव्योंको पवित्र करनेवाले एवं चर्वणके द्वारा, या व्यवहार-उपचारसे विशुद्ध भावके लाभ द्वारा अन्यको शुभ करनेवाले हे चैतन्यस्वरूपके सामान्यविशेषरूप ज्ञान दर्शनस्वभाव ! तुम ही निर्मित्रके सार शरण हो। जगतके सभी प्राणी सबसे विविक्त अपने मात्रमें एक परिपूर्ण होनेसे निर्मित्र ही हैं, ऐसे सबके हितकर होने से शरणभूत हो, जो तुम्हारी स्वरूपस्मरणरूप शरणमें आ जाता है उसके प्रतिपालक हो। तुम्हारे ही कारणको उपादान करके स्वयं ही भ्रष्ट नष्ट हो रहे कर्मोंके महान् विजयके हेतु सर्वत्र योगी संत जनोंमें तुम्हारी महिमा फैली हुई है। ऐसे तुमको पाकर भी अर्थात् तुम तो सतत हो ही, फिर भी यदि मैं प्रणिधानवन्ध्य रहूँ आपके उपयोगसे रहित रहूँ तो हे चैतन्य देव ! मैं बरबाद

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


ही हूं, जन्म मरण सुख दुःखमय संसारका ही पात्र हूं। मेरे स्वभावका वही तिरस्कार ही है। इस ही से सर्वक्लेश है।

सारांश—निधि तो समीप ही है दृष्टि देते ही सर्व दरिद्रता दूर होकर सत्य सुख स्थिर होता ही है, अतः उस निधि चैतन्यस्वभावका आश्रय ही शरण है ॥४०॥

देवेन्द्रवन्द्य विदिताखिलवस्तुसार,
संसारतारक विभो भुवनाधिनाथ।
त्रायस्व देव करुणाहृद मां पुनीहि,
सीदंतमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥४१॥

अन्वय—हे देवेन्द्रवन्द्य! विदिताखिलवस्तुसार! संसारतारक! भुवनाधिनाथ, हे विभो, हे करुणाहृद, हे देव! अद्य सीदतं मां भयदव्यसनांबुराशेः, त्रायस्व, पुनीहि।

अर्थ—हे देवेन्द्रों द्वारा वंदनीय! हे सर्ववस्तुमर्मज्ञ, हे संसारसे तारने वाले, हे त्रिलोकीनाथ, हे प्रभो, हे दया के सरोवर, हे देव! आज तड़पते हुए मुझको भयप्रद दुःखसागरसे बचावो, पवित्र करो।

अध्यात्मध्वनि—प्रकाशमानस्वरूप होनेसे सम्यग्ज्ञान ही देव है, उसके इन्द्र (स्वामी) जोगीजनों तक से भी वंदनीय आराधनीय हे चैतन्यदेव! तुम सर्व वस्तुके मर्मज्ञ हो। तुम्हें जाननेपर सर्व मर्म ज्ञात हो जाते हैं, सर्व मर्मोंमें से गुजरनेवाले भी तुमही हो, ऐसे सर्वमर्मज्ञ हो अथवा सामान्य विशेष दोनों रूप से वस्तुका मर्म आप प्रतिभास लेते हैं ऐसे हे संसारतारक! दृष्ट होने मात्रसे जन्ममरणादि संसारसे द्रष्टाको पार कर देने वाले हे व्यापी त्रिलोकीनाथ!, सर्व जीवोंके चैतन्यभावका स्वलक्षण देखा जाय तो उस स्वरूपसे व्यक्तित्वकी दृष्टि नहीं रहती, अतः तुम एक त्रिलोकीनाथ हो। हे देव! हे दयासरोवर!

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चैतन्यस्वभावकी विशुद्धि परिणतिरूप स्वदयाके प्रसारके मूल आधार श्रेष्ठ ! इस आकुलित उपयोगको या स्वरूपको विपरीत बना देनेवाले भयङ्कर संक्लेश परलक्ष्यरूप विपदावोंके समुद्रसे बचावो और पवित्र करो। सर्व गुणोंके अभिन्न एक भावरूप निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव के अभेदरूप होना ही पवित्रता है, कल्याण है।

सारांश--संकट तो संकल्प विकल्प ही हैं, इनसे बचनेके लिये अभेदस्वभावी चैतन्यभावकी आराधना करो ॥४१॥

यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रिसरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसञ्चितायाः।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः,
स्वामी त्वमेत भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥४२॥

अन्वय—हे नाथ ! त्वदेकशरणस्य मे यदि संततसञ्चितायाः भवदंघ्रिसरोरुहाणां भक्तेः किमपि फलं अस्ति, तत् हे शरण्य ! त्वं एव अत्र भुवने भवान्तरे अपि स्वामी भूयाः।

अर्थ—हे स्वामिन् ! तुम्हारी ही मात्र है शरण जिसको ऐसे मुझे यदि निरंतर संचितकी हुई तुम्हारे चरणकमलोंकी भक्तिका फल कुछ है तो हे शरण्य तुम ही इस लोकमें व भवांतरमें भी मेरे स्वामी होओ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य प्रभो ! तू ही मेरा एक शरण है क्योंकि ध्रुवस्वभावरूप शुद्ध ज्योतिर्मय अनाकुल तू ही है, सो तेरे सामान्य एवं विशेषरूप ज्ञान दर्शन भावकी प्रतीतिके अनन्तर निरन्तर भक्ति की है, उस भक्तिके फलमें यदि कुछ प्राप्ति प्राप्तव्य है तो मात्र यह ही हो कि हे परम पावन चित्स्वरूप ! हे शरणागतप्रतिपालक ! हे स्वरूपस्मरणशरणमें पहुंचे हुए की प्रतिपालना के अमोघ कारण ! इस लोकमें एवं जो भवान्तर शेष हों वहाँ भी तुम ही स्वामी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/



रहो अर्थात् मुझ उपयोगमें एक तुम शरण हितरूप लक्ष्यमें सदैव रहो।

जिसको जो परमहितरूप समझता है वह उसका स्वामी है। वस्तुतः मेरा चैतन्यस्वभाव ही एक स्वामी है; अन्य सर्व भ्रममात्र है। भक्तिके फलमें यहाँ चाहके अभावरूप स्थिति ही चाही गई अथवा अद्वैतभक्ति ही यहाँ उद्योतित है।

सारांश—चैतन्यस्वभावकी आराधनाके फलमें आराधना ही विशिष्ट होकर अन्तमें चरमसीमामें विकसित गुणोंमें अन्तर्धानको प्राप्त हो लेती है। अतः इसके करनेका यही मात्र प्रयोजन है, अन्य नहीं ॥४२॥

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र ,
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्या ,
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥४३॥

हे जिनेन्द्र विभो ! इत्थं समाहितधियः त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः सन्तः ये भव्याः विधिवत् तव संस्तवं रचयन्ति।

अर्थ—हे जिनेन्द्र प्रभो ! इस प्रकार सावधानबुद्धिवाले व तुम्हारे निर्मल-मुखकमलपर बांधा है लक्ष्य जिन्होंने तथा सघन उल्लसित रोमाञ्चसे व्याप्त हैं देहावयव जिनके, ऐसे होते हुए जो भव्य विधिपूर्वक तुम्हारे स्तवनको रचते हैं। (इसका सम्बन्ध आगेके श्लोकमें पूर्ण होगा)।

अध्यात्मध्वनि—हे स्वतः स्वभावविजयसमर्थ चैतन्यदेव ! उक्त प्रकारसे अथवा जैसा कि देख रहा है इसही प्रकारसे अथवा जैसा पहिले स्वरूप देख लिया था उस प्रकारसे समाधानरूप अर्थात् स्थिरीकृत है बुद्धि जिनकी ऐसे एवं तुम्हारे ज्ञेयाकारके निर्मलमुख अर्थात् श्रेष्ठ मूल अंश जो ज्ञायकाकार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वही हुआ कमलवत् निर्लेप शुद्ध स्वलक्षण उसकी ओर बाँधा है लक्ष्य जिन्होंने, ऐसे जो भव्य आत्मा अथवा भव्य उपयोग सघन निरन्तर ऊंचे निर्विकल्प भाव की ओर उठते हुए स्वाश्रितनयविकल्पोंसे परिपूर्ण ज्ञानांश जिनके ऐसे होते हुए तुम्हारी स्तुति रचते हैं—अभेदभावना करते हैं, "शुद्धचिद्रूपोऽहं" के विकल्पोंके अनन्तर स्वाश्रयसे अभेदरूप हो जाते हैं, वे उपयोगआत्मा क्या स्थिति प्राप्त करते हैं ? इसको आगेके छन्दमें कहकर स्तवन परिपूर्ण हो जावेगा।

सारांश—एक उपायसे एकमय होकर एकको प्राप्त करनेके प्रयत्नके प्रयोग के उपायका यही समयसार फल बताया जा रहा है ॥४३॥

**जननयनकुमुदचन्द्रप्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ॥**
**ते विगलितमलनिचयाः अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥४४॥**

अन्वय—जननयनकुमुदचन्द्रप्रभास्वराः ते स्वर्गसम्पदः भुक्त्वा विगलित-मलनिचयाः सन्तः अचिरात् मोक्षं प्रपद्यन्ते।

अर्थ—जननयनरूपी कुमुदके विकसानेको चन्द्रसमान प्रभास्वर ( देदीप्य-मान) वे भव्य जीव स्वर्गसम्पदाओंको भोगकर कर्ममलसमूहसे दूर होते हुए शीघ्र मोक्षको पाते हैं।

अध्यात्मध्वनि—जो पूर्वोक्त प्रकारसे निजअभेदस्वभावरूप चैतन्यप्रभुका आराधन करते हैं वे क्या क्या बीचमें स्थिति पाकर अन्तमें क्या प्राप्त कर लेते हैं, यह दिखाते हैं—जीवोंके ज्ञाननेत्ररूपी कुमुदके विकासमें चन्द्रमाकी तरह देदीप्यमान वे आत्मा अथवा उपयोगसे देदीप्यमान वे आत्मा स्वर्गसंपदावोंको भोग करके [यहां भोगनेका तात्पर्य उन वैभवोंको आश्रय करके सात विकल्प बना करके है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ मात्र अपनेमें ही अपने भावको अनुभवते हैं—परिणमते हैं] द्रव्यकर्मके संयोग से, नोकर्मके सामीप्य से, भावकर्मके समवायसे रहित हो करके बहुत ही शीघ्र अर्थात् घातियाकर्मसे दूर होते ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/


तत्काल भावकर्मसे दूर होकर और अनन्तर अल्प समयमें नोकर्म, प्रतिजीवी विकार व शेष अघातिया कर्मसे दूर होते ही एक समयमें ही सिद्धलोकको प्राप्त होकर परमार्थतः निज शुद्ध परिणमनको प्राप्त होकर मोक्षस्थितिको अनन्तकाल तक अनुभवन करते हैं—परमसुखामय बने रहते हैं।

सारांश—इस ही नित्य अंतःप्रकाशमान चैतन्यस्वभावका अनुभव परम-सुखमय है, अतः इस ही का आराधन करो और विकल्प सर्व समाप्त करो ॥४४॥

# अन्तिम प्रशस्ति

**अस्यां पार्श्वस्तुतौ दृष्ट्वा शब्दांश्चितत्त्वसूचकान्,**
**कृताध्यात्मध्वनिर्भूयात्सहजानन्दसिद्धये ।**

* समाप्तम् *

मुद्रक—मैनेजर, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com